|| श्रीहरि: ||
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 9: राजविद्याराजगुह्ययोग

2/3 (श्लोक 12-22), शनिवार, 23 अगस्त 2025

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/w4CZI0UfOC0

सर्वभूतस्थ ईश्वर का अद्वितीय स्वरूप

सुमधुर देशभक्ति गीत, श्री वल्लभाचार्य कृत मधुराष्टक, श्री हनुमान चालीसा पाठ के पश्चात योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण और परम श्रद्धेय श्री गोविन्ददेव गिरि जी महाराज के पावन आशीष का आह्वान किया गया। आज के पवित्र सत्र का मङ्गल शङ्ख नाद अन्तर्मन को शुद्ध कर देने वाली प्रार्थना व दीप प्रज्वलन के साथ सम्पन्न हुआ।

गुरुदेव के चरणों में नतमस्तक होते हुए और माता सरस्वती की वन्दना करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज की कृपा व आशीर्वाद से इस ज्ञान गङ्गा का तीर्थप्राशन प्रारम्भ हुआ।

इस शुभ वाणी और ऊर्जावान वातावरण के मध्य, श्रीमद्भगवद्गीता के अनुपम, अनिर्वचनीय, ज्ञान, भक्ति और कर्म योगों से परिपूर्ण नवम् अध्याय के मध्यांश के विवेचन सत्र का शुभारम्भ अत्यन्त मधुरता और आनन्द के साथ हुआ।

नवम् अध्याय का विशेष महत्त्व है क्योंकि यह श्री ज्ञानेश्वर महाराज का परम प्रिय अध्याय है। आळंदी, पुणे में बाईस वर्ष की आयु में सञ्जीवन समाधि लेते हुये, उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथजी ने उन्हें विराजित किया तो उनके सामने ये नवम् अध्याय ही खोल कर रखा है।

इसमें तीनों महायोगों- ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का त्रिवेणी-सङ्गम प्राप्त होता है। इस अध्याय में यह तीनों साधना-मार्ग एक ही धारा में समन्वित हो जाते हैं।

श्रीभगवान् ने यहाँ ज्ञानयोग का विवेचन किया है। ज्ञानयोग वह है, जहाँ साधक अपनी तर्कशक्ति, विचार-प्रक्रिया और विवेक के माध्यम से परमात्मा का अन्वेषण करता है। यह हमारी तार्किक बुद्धि को शुद्ध कर उसे ईश्वर की ओर मोड़ देता है। ज्ञानयोग का उद्देश्य है - परमात्मा से एकाकार होना, सत्य का बोध प्राप्त करना और उस वास्तविकता को जानना, जो इस सृष्टि का सञ्चालन करने वाला आदिजगदीश्वर है। यह जगत्, यह सृष्टि और यह जीव विशेषकर यह मानव-जीवन इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है, इसका ज्ञान ही इस जन्म का परम लक्ष्य है।

मानव-जीवन में रहते हुए इस सत्य की अनुभूति करना ही ज्ञानयोग की चरम परिणति है। कर्मयोग का तात्पर्य है - अपने कर्त्तव्यों, अपने साधनों, अपने मार्ग को ईश्वरार्पण भाव से करना। प्रत्येक कर्म को परमात्मा का अनुसन्धान मानकर, उसी के लिए

समर्पित भाव से करना ही कर्मयोग है। यदि कहा जाए तो ज्ञानयोग है तर्क और विवेक की साधना; कर्मयोग है सतत क्रियाशीलता और कर्तव्यपालन, और भक्तियोग है अन्तःकरण में बहने वाली प्रेमधारा को संसार से मोड़कर परमात्मा की ओर प्रवाहित कर देना।

हमारे परमपूज्य स्वामी श्री गोविन्द देव गिरि जी महाराज के जीवन में यह त्रिवेणी सङ्गम प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। **उनके जीवन में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनों निरन्तर प्रवाहित हैं।**

ज्ञानयोग से वे सदैव ज्ञानधारा का प्रसार करते रहे, अपनी वाणी से अमृत तुल्य ज्ञान बरसाते रहे।

कर्मयोग से उन्होंने अड़तालीस वेद विद्यालयों की स्थापना कर, श्रीराम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र ट्रस्ट के कोषाध्यक्ष के रूप में अपने पुरुषार्थ और समर्पण का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया।

उनके अन्तःकरण से अनवरत भक्ति की गङ्गा बहती रहती है।

इस प्रकार भगवद्गीता का नवम् अध्याय अनुपम है। इसमें भगवान ने सृष्टिकर्ता परमात्मा का साक्षात् स्वरूप प्रतिपादित किया।

।।न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।।

(कैसे भगवान सभी जीवों का पालन-पोषण करते हैं, फिर भी वे स्वयं भौतिक सृष्टि का भाग नहीं हैं) इस योगीश्वर्य का वर्णन प्रारम्भ किया।

श्रीभगवान् यह भी कहते हैं कि सब लोग उस परमात्मा को पूर्णता से नहीं जानते। कोई केवल सृष्टि को मानते हैं पर ईश्वर को नहीं मानते। कोई उसे केवल साकार रूप में मानते हैं, कोई केवल निराकार में किन्तु मानने वाले भी उनकी अनन्त, निःशेष, सम्पूर्ण सत्ता को पूर्णतया नहीं जान पाते।

श्रीभगवान् स्वयं भावमय हैं किन्तु जब जीव उनके उस भाव को नहीं समझ पाता, तो वह परमात्मा की सम्पूर्णता को भी नहीं जान पाता। यही कारण है कि कभी-कभी संसार में विचित्र विडम्बना उत्पन्न हो जाती है, राष्ट्र से राष्ट्र टकराते हैं, समाज से समाज सङ्घर्ष करता है और इसका मूल कारण होता है उपासना-पद्धतियों की भिन्नता।

परमात्मा तो एक ही है- वही आदि-जगदीश्वर, वही सृष्टि का सञ्चालक, वही समस्त चराचर का आधार। परन्तु मनुष्य भिन्न-भिन्न भावों से, भिन्न-भिन्न मार्गों से, विविध उपासना-पद्धतियों द्वारा उसी एक ईश्वर का अनुग्रह पाने का प्रयास करता है। ये सब धाराएँ अन्ततः एक ही महासागर में मिल जाने वाली नदियों की भाँति हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं — "यह निश्चय ही बड़ी विडम्बना है कि साधक लोग मार्गों की विविधता में उलझकर, उस एकमात्र परम सत्य को भूल जाते हैं, जो सब मार्गों का ध्येय है।"

गुरुदेव ने एक सुन्दर कथा इसके बारे में बताई है-

एक समय की बात है। एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों ही गुरुजी की सेवा में तत्पर रहते थे, किन्तु सेवा करने की अत्यधिक लालसा के कारण वे आपस में विवाद करने लगे। गुरु ने उनके मन की वृत्ति देखी और समाधान स्वरूप अपने शरीर के दो भाग कर दिए— दाहिना भाग एक शिष्य को और बायाँ भाग दूसरे शिष्य को सेवा हेतु सौंप दिया।

एक दिन दाहिने भाग की सेवा करने वाला शिष्य किसी कार्यवश बाहर चला गया। उसी बीच गुरुजी के दाहिने पैर में पीड़ा हुई। तब गुरुजी ने बाएँ भाग की सेवा करने वाले शिष्य से कहा कि वह उस पैर को दबाए परन्तु उस शिष्य ने उसे अपना भाग न मानकर दूसरे शिष्य का भाग समझा और लापरवाही से दबाने लगा परिणामस्वरूप गुरुजी की पीड़ा और भी बढ़ गई।

अगले दिन जब दाहिने भाग की सेवा करने वाला शिष्य लौटा, तो गुरुजी ने उसे सारा वृत्तान्त सुनाया। यह सुनकर वह शिष्य क्रोध में भर उठा और प्रतिशोधवश एक बड़ा पत्थर उठाकर गुरुजी के बाएँ पैर पर पटक दिया।

यह कथा हमें गूढ़ शिक्षा देती है- जैसे गुरु का शरीर एक होते हुए भी उसे खण्डित मानने से पीड़ा उत्पन्न होती है, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि के एकमात्र स्वामी परमात्मा को यदि विभाजित कर देखा जाए, तो उससे कलह और विनाश का मार्ग ही प्रशस्त होता है। जब तक मनुष्य परमात्मा की अखण्ड सत्ता को नहीं समझता, तब तक इस सृष्टि में विघटन और विनाश अनिवार्य है।

।अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

नाम देखकर इस प्रकार से झगड़ने वाले वर्ण भी परमात्मा को दे देते हैं जैसे राम जी क्षत्रिय थे, श्री कृष्ण वैश्य थे इत्यादि।

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि

ईश्वरास मानुषधर्म लावणे हे चुकीचे होय येतुलेनि अनामा नाम ।
मज अक्रियासी कर्म, विदेहासी देहधर्म आरोपिती ॥

मज वर्णहीना वर्णु ।
गुणातीतासि गुणु ।
मज अचरणासी चरणु ।
अपाणिया पाणी॥

पाणी का अर्थ है हाथ। लोग जिनके हाथ नहीं हैं उनके हाथ की कल्पना कर लेते हैं, जिनके पैर नहीं, उनके पगों की कल्पना करते हैं, आकृति में समाहित कर देते हैं और इस आकृति को सच मानते हैं। निराकार परमात्म तत्त्व को भूल जाते हैं।

फिर निराकार को मानने वाले साकार को मानने के लिए तैयार नहीं। इस प्रकार अपनी उपासना पद्धतियों की भिन्नता के कारण लड़ते हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं - मेरा कोई वर्ण नहीं है, मैं जब इस सृष्टि में अवतार लेकर आता हूँ, बस सयोग्य माँ के गर्भ में प्रवेश करता हूँ। हमारे सन्त महात्मा इस बात को बताने के लिए अपनी वाणी से ज्ञान धरा प्रवाहित करते हैं।

तुकाराम महाराज कहते हैं -

सगुण निर्गुण दोन्ही ज्याची अंगे |
तोचि आम्हा संगे क्रीडा करी ||

सगुण निर्गुण तो इस परमात्मा के दो विभिन्न अङ्ग हैं। कुछ लोग अपनी अनुभूति के कारण इस को सच मानते हुए, दूसरों की उपसना पद्धति की आलोचना करते हुए सृष्टि के विनाश का कारण बन जाते हैं। परमात्मा को मानते नहीं उनका जीवन व्यर्थ होता है।

9.12

मोघाशा मोघकर्माणो, मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं(ञ्) चैव, प्रकृतिं(म्) मोहिनीं(म्) श्रिताः।।9.12।।

(जो) आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति का ही आश्रय लेते हैं, ऐसे अविवेकी मनुष्यों की सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं, सब शुभ-कर्म व्यर्थ होते हैं (और) सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् जिनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देने वाले नहीं होते।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनका जीवन व्यर्थ होकर चला जाता है। वे जीवन जीते हैं, पर न सृष्टि का, न सृष्टिकर्ता का विचार करते हैं। उनका ज्ञान व्यर्थ रहता है, उनके कर्म व्यर्थ रहते हैं। अपनी ही धुन में, अपने स्वार्थ के लिए जीवन व्यतीत करते हैं। उनके ज्ञान, कर्म और आशाएँ सब व्यर्थ और निष्फल हो जाते हैं।

मोघ का अर्थ है - व्यर्थ, वह जो सृष्टि के कल्याण में कोई योगदान न दे।

मोघाशा का अर्थ है - व्यर्थ की आशा। जैसे नमक भरी चाय में मिठास की अपेक्षा करना व्यर्थ है, वैसे ही यदि परमकारण से हमारे सम्बन्ध का बोध न हो और उस बोध की प्राप्ति के लिए कोई साधना अथवा प्रयत्न न किया जाए, तो सारी आशाएँ व्यर्थ ही रह जाती हैं।

मोघकर्माणः - वे लोग जो व्यर्थ कर्म करते हैं। ऐसे कर्म जिनसे न आत्मा को शान्ति मिलती है, न भक्ति का उदय होता है, न वैराग्य का विकास होता है।

गुरुदेव कहते हैं- वैराग्य का अर्थ है अपने सीमित समय, सीमित शक्ति और सीमित क्षमताओं का सदुपयोग। मानव जीवन का काल छोटा है, ऊर्जा सीमित है, अतः इसे केवल अपने उत्थान और जन कल्याण के लिए समर्पित करना ही सच्चा वैराग्य है।

जिस कर्म से भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की वृद्धि नहीं होती, वह कर्म केवल मोघकर्म है, व्यर्थ और निरर्थक। ऐसे कर्म मनुष्य को न मुक्ति की ओर ले जाते हैं, न परमात्मा के समीप।

मोघज्ञाना - अर्थात् व्यर्थ ज्ञान।
बहुत से लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु वह ज्ञान स्थायी और उपयोगी नहीं होता; वह केवल अस्थायी सूचना के रूप में रहता है। आज के युग में इस प्रकार का ज्ञान विशेष रूप से सोशल मीडिया और व्हाट्सएप पर दिखाई देता है, असङ्ख्य सन्देश, वीडियो और चर्चाएँ प्रतिदिन फैलती हैं, उनमें से अधिकांश का कोई स्थायी सार या बोध नहीं होता।

गुरुदेव कहते हैं कि बचपन और युवावस्था में सामान्य ज्ञान, जैसे क्रिकेट में किसने कितने शतक बनाए, ठीक है; यह मन और चेतना को प्रारम्भिक स्तर पर संलग्न रखता है। यदि हम इसी में लीन रह जाते हैं, तो हमारे जीवन का परिष्कार, आन्तरिक चेतना का विकास और आत्मोन्नति सम्भव नहीं हो पाती।

जो ज्ञान हमें परमात्मा के साथ अनुसन्धान, भक्ति और आत्म साक्षात्कार की ओर नहीं ले जाता, वह केवल मोघज्ञान है - व्यर्थ, असार और अनुत्पादक।

मनुष्य की प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि तीन प्रकार के लोग होते हैं, जो परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते। ये लोग विद्या में प्रचुर होते हैं, कर्मों में अत्यधिक सक्रिय रहते हैं, और मन में अनेक आकाङ्क्षाएँ तथा अपेक्षाएँ सञ्जोते हैं। किन्तु जब तक उनका ज्ञान, उनका कर्म और उनकी सभी आशाएँ लोककल्याण के उद्देश्य से जुड़ी नहीं होतीं, तब तक वे सभी मोघ, अर्थात् व्यर्थ ही रह जाते हैं।

विचेतसः - ऐसे लोग जिनका चित्त चञ्चल और अस्थिर होता है। वे स्वयं भी नहीं जानते कि क्या करना है, परन्तु अपनी चञ्चल प्रवृत्ति से संसार को भ्रमित करते हैं। उनके दृष्टिकोण अस्पष्ट होते हैं; ज्ञान तो उन्होंने अर्जित किया होता है, परन्तु वह व्यर्थ और अनुत्पादक रह जाता है। इसी प्रकार वे कर्म भी करते रहते हैं, परन्तु इसका सृष्टि के कल्याण में कोई उपयोग नहीं होता।

सुचेतसः - ऐसे लोग जिनका अन्तःकरण स्थिर और सुव्यवस्थित होता है। वे जानते हैं कि क्या करना है और उनकी कर्मभूमि और ज्ञान का सञ्चालन सृष्टि के कल्याण और परमात्मा के अनुसन्धान हेतु होता है। उनके कर्म और ज्ञान का मार्ग स्पष्ट होता है और उनका प्रयत्न सार्थक बनता है।

जीवन के उत्तरार्ध में ज्ञान और कर्म ऐसे होने चाहिए जो वैराग्य, भक्ति और श्रद्धा को जागृत करें।

आगे श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन! **राक्षसी, आसुरी और मोहिनी ऐसे तीन प्रकार के लोग होते हैं।**

राक्षसी प्रवृत्ति के लोग स्वभावतः दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं जैसे आतङ्कवादी जो सामने से ही वार करते हैं। ऐसे लोग संसार में दूसरों के कल्याण को बाधित कर दुःख और अशान्ति फैलाते हैं।

बचपन की कहानियों में हमने राक्षसों का स्वरूप काला, विकराल दाँतों वाला सुना, पर वस्तुतः राक्षसत्व का रङ्ग से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्या श्वेतवर्ण मात्र से मनुष्य सद्गुणी हो जाता है? श्रीकृष्ण स्वयं श्यामवर्ण हैं, परन्तु वे जगत् के सर्वश्रेष्ठ हितैषी हैं।

आसुरी प्रवृत्ति के लोग दूसरी श्रेणी में आते हैं। ये व्यक्ति विद्या, कला और सामर्थ्य से सम्पन्न हो सकते हैं, किन्तु अपनी योग्यता का प्रयोग अधर्म और दुरुपयोग में करते हैं। **Eat, drink and be merry** इनका जीवन लक्ष्य होता है। बड़े-बड़े शिक्षित व्यक्ति भी कभी लोभवश अनैतिक कार्यों से अवैध व्यापार या छल–कपट में लिप्त पाए जाते हैं। क्लबों और ऐश्वर्यपूर्ण सभाओं में समय नष्ट कर, विकृत जीवनशैली का प्रचार-प्रसार करना इनका लक्ष्य बन जाता है। महाभारत में मयासुर का वर्णन आता है। वे एक प्रसिद्ध दानव शिल्पी थे,अद्भुत आर्किटेक्ट, उन्होंने इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों के लिए भव्य माया सभा का निर्माण किया था।

तीसरी श्रेणी **मोहिनी** अर्थात् तमोगुण प्रधान व्यक्तियों की है। ये जड़ता और आलस्य में डूबे रहते हैं, निष्क्रिय और व्यसनों में डूबे। इनके जीवन का आधार केवल क्षणिक सुख और प्रमाद होता है।

एक उदाहरण पूर्वोत्तर भारत का है जहाँ पूरा गाँव चावल को सड़ाकर शराब बनाता और सन्ध्या होते ही स्त्री-पुरुष सभी नशे में चूर हो जाते। उन्हें यह ज्ञान ही नहीं कि जीवन का कोई और उच्चतर मार्ग भी हो सकता है। यह तमोगुण की प्रवृत्ति का मूर्त रूप है।

श्रीभगवान् स्पष्ट करते हैं कि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी-ये तीनों प्रवृत्तियाँ प्रकृति के सहारे अपनी वृद्धि करती हैं और संसार को अधःपतन की ओर ले जाती हैं।

किन्तु श्रीभगवान् यह भी कहते हैं कि सभी मनुष्य ऐसे नहीं होते। कुछ ऐसे भी हैं जो आत्मोन्नति की ओर सतत प्रयत्नशील रहते हैं। वे दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होते हैं और संसार को प्रकाश, शान्ति और कल्याण के पथ पर अग्रसर करते हैं। अपना प्रेम परमात्मा की ओर निरन्तर बहाते हुए जीते हैं, इस जीवन से इस सृष्टि का कुछ न कुछ कल्याण चाहते हैं।

9.13

महात्मानस्तु मां(म्) पार्थ, दैवीं(म्) प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो, ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।9.13।।

परन्तु हे पृथानन्दन ! दैवी प्रकृति के आश्रित अनन्य मन वाले महात्मा लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का आदि (और) अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन!! कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका जीवन समर्पण की मूर्ति बन जाता है। उनके लिए समस्त कर्म ही आराधना है। वे किसी भौतिक भोग की याचना नहीं करते, वे परमात्मा से केवल परमात्मा को ही माँगते हैं। इसी अनन्यता, इसी अखण्ड निष्ठा और निष्काम भाव से वे अन्ततः उसी दिव्य सत्ता में लीन होकर भगवान की प्राप्ति कर लेते हैं।

फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! वे दैवीय प्रकृति के होते हैं। ऐसे महात्मा जिनका अन्तरङ्ग परिपक्व हो गया हो, जिनका अन्तर्मन उस अविनाशी के साथ एकाकार होने के लिए छटपटा रहा है, ऐसे महात्मा प्रकृति का आश्रय लेकर पञ्च महाभूतों से निर्मित सृष्टि के आधार - परमात्मा को जानकर, जो अव्यय हैं, जिनका कभी नाश नहीं होता उन्हें नित्य अनन्य भजते हैं।

श्रीभगवान् को जानने की इच्छा रखते हुए वे इस सृष्टि की सेवा करते हैं। वे जानते हैं एक ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टि का सञ्चालन कर रहे हैं।

यहाँ अनन्यता का अर्थ भी समझना चाहिए-

अनन्यता का अर्थ कदापि यह नहीं है कि मैं जिस पर परमात्मा को मानता हूँ वही सही है, राम को मैं नहीं मानता, शिवलिङ्ग को मैं नहीं मानता, गोपाल गिरिधारी ही मेरे इष्ट हैं। वैष्णव और शैव्य में यह टकराव था। हमारी अनुभूति जहाँ से हो गई वही सत्य है, मुझे वही परमात्मा चाहिए, कोई अन्य नहीं, ऐसा विचार ठीक नहीं।

हम जिस धारा के नीचे आ गए हैं वह ठीक है पर अन्य धाराओं का भी आदर करना चाहिए। अपनी धारा के प्रवाह से उसे जानना है, उसकी भक्ति प्राप्त करना है, यह भावना होनी चाहिए।

अनन्यता का एक अर्थ यह भी है कि मुझे जीवन में उस परमात्मा के अलावा कुछ और की चाह नहीं, उसे जानना है, उसकी भक्ति प्राप्त करना है, उसके लिए कर्म करना है।

स्वामी विवेकानंद जी के जीवन का प्रसङ्ग

स्वामी विवेकानन्द जी के पिताजी बहुत बड़े दानी थे। स्वामीजी की चार बहनें थी, उनकी माँ ने शिवजी की बहुत आराधना की थी तब स्वामीजी का जन्म हुआ था। विवेकानन्द जी के पिता जी की मृत्यु के पश्चात् माता तथा बहनों के भरण पोषण करने हेतु स्वामीजी अत्यधिक दुविधा में थे।

स्वामीजी साधना में लीन होना चाहते थे। उन्होंने अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस से आग्रह किया कि आप तो रोज साक्षात् माँ जगदम्बा से वार्ता करते हैं, उनसे मेरे लिए प्रार्थना करें। स्वामी रामकृष्णजी ने कहा कि तुम तो सगुण के उपासक नहीं हो, आज तुम माता जगदम्बा से अपने लिए प्रार्थना करो, माता तुम्हारी हर इच्छा को पूर्ण करेंगी।

स्वामी विवेकानन्द जी गर्भ गृह में गए तो उन्हें साक्षात् माँ जगदम्बा के दर्शन हुए। माता ने उनसे वर माँगने के लिए कहा तो उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य माँगा।

बाहर आने पर उन्होंने अपने गुरु से इस घटना का वर्णन किया तो गुरु ने उन्हें पुनः भीतर भेजा। वे तीन बार भीतर गए परन्तु

प्रत्येक बार उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य ही माँगा। स्वामीजी लौकिक वस्तुएँ माँग ही नहीं सके, तीनों बार अलौकिक ही माँगा।

स्वामी रामकृष्णजी ने कहा तुम माँ से माँ को ही माँगोगे, लौकिक वस्तुएँ तुम माँग नहीं सकोगें। स्वामी जी के घर परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था की।

इस सृष्टि में महात्मा लोग सतत इस अनन्य भाव के साथ परमात्मा की कीर्ति गाते हुए रहते हैं।

9.14

सततं(ङ्) कीर्तयन्तो मां(यँ), यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां(म्) भक्त्या, नित्ययुक्ता उपासते॥9.14॥

नित्य- निरन्तर (मुझ में) लगे हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर लगन पूर्वक साधन में लगे हुए और प्रेम पूर्वक कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुये निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।

विवेचन - निरन्तर परमात्मा में लीन व्यक्ति के लक्षण

दृढ़व्रताः - भक्त का व्रत अब अटल और अडिग हो जाता है। उसका सङ्कल्प यही रह जाता है कि जीवन अब परमात्मा के लिए ही जीना है। उसका जीवन अब केवल ईश्वर की सेवा और स्मरण के लिए प्रज्वलित होता है।

यतन्तश्च - वह नतमस्तक होकर, पूर्ण प्रयत्न के साथ परमात्मा की शरण आता है। तन, मन और आत्मा का सम्पूर्ण समर्पण कर देता है।

नित्ययुक्ताः - सच्चा भक्त सदा परमात्मा से युक्त रहता है। उसका अन्तःकरण एक तार की भाँति ईश्वर से निरन्तर जुड़ा रहता है।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण परमहंस इस स्थिति को समझाते हुए कहते थे-

"एक हाथ से पूरे मन से ईश्वर के चरण पकड़े रहो और दूसरे हाथ से संसार के कार्य करो। जब कार्य पूर्ण हो जाएँ, तो वह हाथ भी चरणों पर रख दो।
पर एक हाथ कभी मत छोड़ो, क्योंकि उसी से जीवन का तार ईश्वर से जुड़ा रहता है।"

यही है नित्ययोग - निरन्तर ईश्वर-सान्निध्य में जीना।

नमस्यन्तश्च मां भक्त्या - श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं: ऐसे भक्त का प्रेम निरन्तर मेरी ओर बहता रहता है। जैसे जल सतत सागर की ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही उसका प्रेम-प्रवाह केवल और केवल ईश्वर में ही विलीन होता है।

भक्ति का सार - भक्ति का तात्पर्य है अपना समस्त प्रेम एकमुखी होकर परमात्मा की ओर बहने लगे। संसार में हम अपने परिवारजनों और गुरुजनों से प्रेम करते हैं, करना भी उचित है। पर जब यह प्रेम अपनी सम्पूर्णता में केवल परमात्मा की ओर प्रवाहित होने लगे और उसमें कोई शर्त, कोई अपेक्षा शेष न रहे, वही सच्ची भक्ति है। यही अनन्य प्रेम है, जो जीवन को मोक्ष के पथ पर अग्रसर करता है।

सन्त तुकाराम महाराज कहते हैं कि भगवान नारायण की कृपा उस अन्न से भी अधिक मूल्यवान है, जो पेट भरने हेतु प्राप्त होता है और उस वंश-परंपरा से भी श्रेष्ठ है, जिसे मनुष्य पीछे छोड़ जाता है।

न मिळो खावया न वाढो संतान ।
परि हा नारायण कृपा करो ॥१॥

मैं नारायण की कृपा चाहता हूँ, लेकिन इस सृष्टि के भोगों के लिये नहीं, कुछ दें तो भी ठीक, न दें तो भी ठीक।

उनकी आकाङ्क्षा है कि चाहे शरीर पर कैसी भी विपत्ति आए, चाहे जीवन कितने ही दुःख-दर्द से क्यों न जूझे, वे निरन्तर नारायण-नाम के जप में ही तल्लीन रहें।

सततं कीर्तयन्तः - इस दृढ़ निश्चय से प्रेरित होकर भक्त निरन्तर परमात्मा की कीर्ति का गान करता है। उसके प्रत्येक श्वास में केवल ईश्वर-स्तुति का सङ्गीत गुञ्जित होता है। नाम-सङ्कीर्तन ध्यान से भी अधिक प्रभावकारी है, क्योंकि उसमें भावनाओं का प्रचण्ड वेग जुड़ जाता है।

सङ्कीर्तन में दो प्रकार के संवेग होते हैं, मृदु संवेग और उग्र संवेग। जब भक्त परमात्मा के लिए स्तोत्र गाता है, तो उसके हृदय में प्रेम का ज्वार उमड़ पड़ता है। यही प्रेम संवेग उसे ईश्वर के और निकट ले आता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य केवल परमात्मा की कीर्ति गाता रहे तो इस सृष्टि के कार्य कैसे सम्पन्न होंगे? इसका अत्यन्त सुन्दर समाधान है - दृष्टिकोण का रूपान्तरण।

जब हम सृष्टि को परमात्मा की कृति मानकर देखते हैं, तो प्रत्येक क्रिया स्वयं कीर्तन बन जाती है।

देखो, किस प्रकार उषा के आगमन पर सूर्य उदित होता है और सम्पूर्ण जगत् को आलोकित कर देता है! कैसे वनस्पतियाँ सूर्य की किरणों से अन्न का निर्माण करती हैं! सूर्य के उगने के बाद फूल अपने रङ्ग और सुगन्ध से खिल उठते हैं, पक्षी मधुर चहचहा कर गगन को गुञ्जित कर देते हैं और दाना चुगने के लिए बाहर निकल पड़ते हैं। सारा जगत् कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। जल के प्रवाह से धरती जीवनदायिनी बनती है, और उसी से हमारा शरीर भी पल्लवित और पुष्ट होता है।

यह सम्पूर्ण सृष्टि स्वयं एक सतत कीर्तन है, एक दिव्य सङ्गीतमय गान है।

प्रत्येक रश्मि, प्रत्येक पवन, प्रत्येक नाद यही उद्घोष करता है कि "यह विश्व किस चित्रकार का है? यह अनन्त लीला किस परम् कलाकार की कूची से रची गई है?

हरी हरी वसुंधरा पे नीला नीला ये गगन
के जिस पे बादलों की पालकी उठा रहा है ये पवन
दिशाएं देखों रङ्ग भरीं,चमक रहीं उमङ्ग भरी,
ये किसने फूल फूल पे किया सिङ्गार है,
ये कौन चित्रकार है, ये कौन चित्रकार ।

परमात्मा की यही कीर्ति देखते हुए अपना कार्य करना है।

ऐसे साधक, इस विश्व रूपी चित्रपट के अद्वितीय चित्रकार से अपना सम्बन्ध जोड़ने की गहन अभिलाषा रखते हैं। उसी भावावेश में वे निरन्तर उसकी कीर्ति का गान करते हुए, कर्मपथ पर अग्रसर रहते हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन, नित्य निरन्तर मुझ में लगे हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर लगन पूर्वक और प्रेम पूर्वक कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर मेरी उपासना करते हैं। परन्तु, हे अर्जुन! मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ विविध होती हैं, कुछ अन्य साधक भी हैं, जो भिन्न-भिन्न मार्गों से मेरी ही आराधना करते हैं।

9.15

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये, यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन, बहुधा विश्वतोमुखम्।।9.15।।

दूसरे साधक ज्ञान यज्ञ के द्वारा एकीभाव से (अभेद-भाव से) मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे भी कई साधक (अपने को) पृथक् मानकर चारों तरफ मुखवाले मेरे विराट रुप की अर्थात् संसार को मेरा विराट रुप मानकर सेव्य-सेवक भाव से (मेरी) अनेक प्रकार से (उपासना करते हैं)।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि अर्जुन, कुछ लोग मेरी याने सगुण साकार ब्रह्मतत्त्व की आराधना ज्ञानयज्ञ के माध्यम से करते हैं। वे शास्त्रों का अध्ययन कर, ज्ञान से अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनाते हैं और मुझे जानने का प्रयास करते हैं।

आगे श्रीभगवान् कहते हैं कि कुछ लोग एकत्त्व भाव से, अद्वैत दृष्टि रखते हुए मेरी सेवा करते हैं। उनका हृदय भिन्न भाव से मुक्त होता है और वे सम्पूर्ण ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाते हैं।

कुछ लोग पृथकत्त्व भाव से, द्वैत भाव से मेरी आराधना करते हैं, मानते हैं कि परमात्मा और जीव अंशों में विभाजित हैं, और मैं उनमें अंश रूप में विद्यमान हूँ।

यशोदा माता नन्दलाल की और कौशल्या माता रामजी की **वात्सल्य** भाव से सेवा करती हैं।

ठाकुर रामकृष्ण देव ने ठाकुर मेरी माँ हैं और मैं उनका छोटा सा बालक हूँ, इस भाव से **लालन** भक्ति की।

गोपियाँ **माधुर्य** भाव से श्रीभगवान् में स्वामी रूप देखती हैं, इसे माधुर्यभक्ति कहते हैं, यह सर्वोपरि भक्ति है। सन्त गुलाबराव महाराज ने इस भक्ति की प्रतिष्ठा की।

हनुमानजी **दास भाव** से सेवा करते हैं।

अर्जुन **सखा** भाव से श्रीभगवान् के साथ रहते हैं।

परमात्मा को सखा भावना बड़ी भाती है। श्रीभगवान् गोप बालकों के साथ धेनु चराते हैं, माखन चुराते हैं, मुरली बजाते हैं और सख्य भाव का आनन्द प्राप्त करते हैं।

बड़ी अद्‌भुत और आनन्द की बात यह है कि हम जिस भाव से परमात्मा को पुकारते हैं, जिस दृष्टि से उनकी ओर बढ़ते हैं, उसी का पूरक रूप धारण कर वे हमारे सम्मुख प्रकट हो जाते हैं।

यह उनका दिव्य स्वभाव है, जो भाव हम धारण करें, उसी की पूर्णता वे स्वयं बनकर हमारे सम्मुख खड़े हो जाते हैं।

यदि हम बालक-भाव से श्रीभगवान् को पुकारते हैं, तो वे वात्सल्यमूर्ति बनकर हमें अपनी गोद में उठा लेते हैं।

जब हम उन्हें माँ समझकर रोते हैं, तो वे ममता बनकर हमारी रक्षा करते हैं।

यदि हम दास-भाव से उनकी सेवा करते हैं, तो वे स्वामी रूप में हमें स्वीकार करते हैं।

यदि हम माधुर्य-भाव से उन्हें स्मरण करते हैं, तो वे प्रेमरस की अखण्ड धारा बनकर हृदय में प्रवाहित होते हैं।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज बहुत सुन्दर बात कहते हैं -

तूं प्रेमाचा पुतळा ।
तूं भक्तीचा जिव्हाळा ।
तूं मैत्रियेचि चित्कळा ।

जब हम उन्हें सखा मानकर सम्बोधित करते हैं, तो वे स्नेही मित्र, दार्शनिक (philosopher) और मार्गदर्शक बनकर जीवन की हर युद्धभूमि में हमारा हाथ थामते हैं। मित्रता तो कोई उनसे सीखे।

खाण्डव वन के प्रसङ्ग में इसे जीवन्त रूप में देखा जा सकता है। वहाँ पर अग्नि नारायण अर्जुन और कृष्ण पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने पार्थ की भक्ति, साहस और समर्पण देखकर उन्हें गाण्डीव धनुष और दिव्य रथ प्रदान किया।

उस अवसर पर अग्निदेव ने श्रीकृष्ण से वर मांगने का आग्रह किया। श्रीभगवान् ने कहा कि मैं जन्म-जन्मान्तर में कभी अवतार लेकर आऊँ, तो मुझे पार्थ जैसा मित्र चाहिए।

लौकिक ज्ञानयज्ञ करने वाले भी, यथार्थ में, सृष्टि के कल्याण हेतु कर्म करते हैं। जैसे कोरोना वैक्सीन के लिए कार्य करने वाले वैज्ञानिक, आयुर्वेद की औषधियों का निर्माण करने वाले, मानवता की भलाई में लगे हैं , वे भी श्रीभगवान् के ज्ञान यज्ञ के ही सेवक हैं।

श्रीराम जी और हनुमानजी के बीच हुआ प्रसङ्ग हम सब को पता है -

एक बार भगवान श्रीराम ने हनुमान जी से प्रश्न पूछा कि "हे हनुमान जी! हम दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है?" हनुमान जी तो अत्यन्त बुद्धिमान हैं। उन्होंने बहुत सुन्दर उत्तर दिया -

देहदृष्ट्या दासोऽहम,
जीवदृष्ट्या अंशोऽहम,
आत्मदृष्ट्या त्वमेवाहम् ।

"अगर देह भावना से देखें तो मैं आपका दास हूँ, आपकी सेवा में हूँ। जीव की दृष्टि से देखें तो मैं आपका अंश हूँ, आपका प्रतिबिम्ब हूँ। आत्म दृष्टि से देखेंगे तो मुझ में और आप में कोई अन्तर नहीं है। आप और मैं एक ही हैं।"

यही कारण है कि भक्ति में कोई एक नियमबद्ध मार्ग नहीं है, वह हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। जब जीव का हृदय जिस रस

में डूबता है, उसी रस में परमात्मा उसे अपने दर्शन कराते हैं। यही लीला है, भाव का आदान-प्रदान, भाव का विस्तार।

श्रीभगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! जो लोग मेरी आराधना श्रद्धा और भक्ति से करते हैं, वे इस सृष्टि में रहते हुए ही इसे कल्याण और मङ्गल के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। यह सृष्टि सारे दैवीय गुणीजनों के कारण स्थिर और स्थायी बनी हुई है; उसका विनाश नहीं हो रहा। उनके द्वारा सङ्गठित और नियोजित यज्ञ, कर्म और साधन सभी मेरे ही अनुग्रह और प्राप्ति में समाहित होते हैं।

9.16

अहं(ङ्) क्रतुरहं(यँ) यज्ञः(स्), स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम्, अहमग्निरहं(म्) हुतम्॥9.16॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ (और) हवन रूप क्रिया भी मैं हूँ। जानने योग्य पवित्र, ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान (भण्डार) (तथा) अविनाशी बीज (भी मैं ही हूँ)। (9.16-9.18)

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! यज्ञ भी मैं ही हूँ, और यज्ञ में जो सामग्री डाली जाती है, वह भी मैं ही हूँ। अग्नि भी मैं ही हूँ, और हवन रूपी वह क्रिया भी मैं ही हूँ, जो यज्ञ में सम्पन्न हो रही है।

यज्ञ के अनेक प्रकार हैं- श्रौत, स्मार्त आदि। प्रत्येक क्रतु (यज्ञ का प्रकार) भी मैं ही हूँ।

यज्ञ में उत्पन्न अग्नि भी मैं ही हूँ। यह अग्नि ऊपर उठती है और उसमें पञ्च महाभूतों - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की आहुति दी जाती है। सृष्टि के लिए ये आवश्यक घटक हैं।

इन आहुतियों के माध्यम से सृष्टि में पाँचों मूल तत्वों का सन्तुलन बना रहता है। यही तत्व सृष्टि और मानव शरीर के निर्माण के आधार हैं।

आयुर्वेद के अनुसार, जब ये तत्व सन्तुलित रहते हैं, तब स्वास्थ्य और शान्ति बनी रहती है; और जब असन्तुलन होता है, तब रोग उत्पन्न होते हैं।

इसलिए यज्ञ का यह तत्त्व सृष्टि की स्थिरता और कल्याण के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्रीभगवान कहते हैं अहं क्रतु, अहं यज्ञ, अहं अग्नि, अहं स्वधा, अहं हुतम्, अहं मन्त्रम्। अर्थात्—यज्ञ, उसकी सामग्री, मन्त्र, आहुति और हवन रूपी क्रिया, और यज्ञ करने वाला स्वयं भी मैं ही हूँ।

यज्ञ में आहुति दो प्रकार की होती है -स्वधा और स्वाहा:
स्वधा पितरों के लिए डाली जाती है। अग्निदेवता इसे स्वीकार कर पितरों और देवताओं तक पहुँचाते हैं।
स्वाहा कहते हुए जब सामग्री डाली जाती है, तो वह देवताओं तक पहुँचती है।

सनातन धर्म की या वैदिक धर्म की परम्परायें या सिद्धान्त बताते हुए श्रीभगवान कहते हैं कि यज्ञ में प्रयुक्त सामग्री भी मैं ही हूँ। यज्ञ करते हुए कहे जाने वाले मन्त्र भी, श्रीभगवान कहते हैं कि मैं ही हूँ। आहुति डालने के लिए उपयोगी पवित्र शुद्ध घी भी मैं ही हूँ। हवन रूपी क्रिया भी मैं ही हूँ और यज्ञ करने वाला भी मैं ही हूँ।

यदि हम सृष्टि में हो रहे सभी कार्यों को यज्ञ के रूप में देखें, तो समझ सकते हैं कि जैसे बिजली बनाने में प्रयुक्त कोयला, पानी, यन्त्र और अन्य कच्चे पदार्थ सब परमात्मा की देन हैं। यहाँ तक कि इस प्रक्रिया में संलग्न कर्मचारी भी परमात्मा के ही स्वरूप

हैं। यह दर्शाता है कि सृष्टि में सङ्घ और समन्वय से किए जाने वाले सृष्टि के कल्याण के लिये कर्म और यज्ञ, परमात्मा तक ही पहुँचते हैं।

कहा जाता है -

TEAM - together, everyone achieves more

सङ्घ भावना से सृष्टि के कल्याण के लिए किया जाने वाला कर्म या यज्ञ इस प्रकार से परमात्मा तक ही पहुँचता है।

यह बात हम समझें। मनुष्य को प्रायः लगता है कि "यह मैंने किया।" परन्तु कच्चा सामान (raw material), ऊर्जा और संसाधन सब परमात्मा से ही प्राप्त होते हैं। जब हम इस दृष्टिकोण को समझते हैं, तब हम सृष्टि और परमात्मा के बीच का सम्बन्ध सही रूप में देख पाते हैं।

जो लोग इस प्रकार ज्ञान में रमते हैं और परमात्मा के स्वरूप को समझते हैं, उनकी सभी भ्रान्तियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो जाती हैं और वे धीरे-धीरे परमात्मा के साथ एकाकार हो जाते हैं।

इस प्रकार,

वे स्वयं भी परमात्मा के समान विशाल और व्यापक होते जाते हैं।

9.17

पिताहमस्य जगतो, माता धाता पितामहः।
वेद्यं(म्) पवित्रमोङ्कार, ऋक्साम यजुरेव च।।9.17।।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! इस जगत का पिता (बीज प्रदान करने वाला) मैं हूँ, माता (धारण करने वाला) मैं हूँ। मैं ही सबका पालन-पोषण करने वाला हूँ। मैं ही पितामह हूँ, मैं ही सृष्टि का आधार हूँ।

श्रीभगवान् का निर्माण किसने किया? यह प्रश्न ही निर्माण नहीं होता है, वे तो स्वयंभू हैं।

ऐसा कहा जाता है -

I am causeless cause of the world

अहमस्य जगतो माता, धाता, पितामहः सम्पूर्ण जगत की माता, पालनहार और आधार मैं ही हूँ।

जैसे एक मकड़ी अपने जाले का निर्माण स्वयं करती है और उसमें अपनी सुरक्षा, भोजन और जीवन का आयोजन करती है, उसी प्रकार परमात्मा भी अविनाशी और अव्यय सृष्टि का निर्माण, पालन और सञ्चालन करते हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं—पवित्र ॐ कार भी मैं ही हूँ। अर्थात् अ,ऊ,म्

अ - मैं ही निर्माता हूँ (ब्रह्माजी)

उ - मैं ही पालनकर्ता हूँ (विष्णुजी)
म् - मैं ही संहारकर्ता हूँ (महेशजी)

वेदों का जो निर्माण हुआ है, वह भी मुझसे ही हुआ है — ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद। आगे चलकर वेदव्यास जी ने अथर्ववेद का निर्माण किया और सृष्टि के संविधान के अनुसार इन वेदों का विभाजन किया। यह दर्शाता है कि सम्पूर्ण ज्ञान, धर्म और साधना की नींव भी परमात्मा के स्वरूप में निहित है।

श्रीभगवान् कहते हैं कि वेद्यं(म्) जो हमें जानता है, सृष्टि को जानता है, उसे जानो।

वेदों का रक्षण होना चाहिए। इसी उद्देश्य से अड़तालीस वेद विद्यालय जम्मू से लेकर मणिपुर तक स्थापित किये गए हैं।

वेद क्या होते हैं। इसे सरल भाषा में जानने का प्रयास करते हैं -

जिस प्रकार देश का संविधान होता है, एक नियमावली होती है जिससे देश का सारा कार्य, कारोबार चलता है। उसी प्रकार यह सृष्टि कैसे चलेगी, उसके क्या नियम होंगे - पृथ्वी तीन सौ पैंसठ दिन में सूर्य की परिक्रमा पूरी करती है, ब्रह्माण्ड में नियामकता है, ये नियामकता कैसे बनी रहती है? नियम जिसने धारण किए हैं वह संविधान है - वेद।

यहाँ एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रीभगवान् यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वेद्यं अर्थात् वह ज्ञान जो जानने योग्य है, जिसे न जाने तो यह मानव जीवन व्यर्थ हो जाएगा। मनुष्य जीवन ही योग-योग्यता वाली योनि है, जिसमें परमात्मा के साथ वास्तविक सम्पर्क और एकत्त्व सम्भव है। अन्य योनियाँ केवल भोग और अनुभव के लिए हैं।

तेजोमयानन्द स्वामी जी बहुत सुन्दर बात बताते हैं कि जब हम परीक्षा देने जाते हैं तब प्रश्न पत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचना लिखी होती है, जैसे प्रथम प्रश्न अनिवार्य है, बाकी प्रश्नों में आप कोई छः प्रश्न हल कर सकते हैं। किसी ने यह सूचना नहीं पढ़ी तो वह बाकी छह प्रश्न हल करता रहता है और समय समाप्त हो जाता है। वह पहला प्रश्न हल नहीं कर पाता, उसके पहले ही उत्तर पुस्तिका छीन ली जाती है।

इसी प्रकार मनुष्य का जीवन है। सारा ज्ञान जानने में ही मनुष्य का जीवन निकल जाता है परन्तु जो अनिवार्य प्रश्न है उसे किये बिना, स्वयं को जाने बिना, सृष्टिकर्ता को जाने बिना, सृष्टिकर्ता के साथ अपना सम्बन्ध जाने बिना ही इस देह की अवधि, कार्यकाल समाप्त हो जाता है।

इसलिए मनुष्य जीवन में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए- गीता का अध्ययन करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, और समग्र रूप से नहीं तो अंशतः भी परमात्मा के साथ जुड़ने का प्रयास करना आवश्यक है।

यही जीवन का सर्वोच्च प्रयोजन है - ज्ञान और भक्ति के माध्यम से परमात्मा से सम्पूर्णतया सङ्गम प्राप्त करना।

9.18

गतिर्भर्ता प्रभुः(स्) साक्षी, निवासः(श्) शरणं(म्) सुहृत्।
प्रभवः(फ्) प्रलयः(स्) स्थानं(न्), निधानं(म्) बीजमव्ययम्।।9.18।।

विवेचन - गति का तात्पर्य है- गन्तव्य तक पहुँचाने वाला वेग, वह शक्ति जो जीव को उसके परम आश्रय तक ले जाती है।

गतिर्भर्ता प्रभुः(स्) - भरण-पोषण करने वाला प्रभु ही वह सर्वसमर्थ है, जो समस्त प्राणियों का स्वामी होकर प्रत्येक का निर्वाह करता है।

साक्षी - स्वरूप वह ईश्वर है, जो निष्पक्ष द्रष्टा, अन्तर्यामी बनकर सब कुछ देखता है।

निवासःशरणं - वही समस्त लोकों का निवास-स्थान है, वही शरणागति का परम धाम है। यदि हमें सन्तता से अनन्तता, ससीमता से असीमितता की और जाना है, हमें सङ्कुचितता से व्यापकता की ओर जाना है, तो व्यापक रूप में उसकी सेवा करना, अर्चना करना, भक्ति करना और उसके शरणागत होना होगा।

सुहृत का अर्थ है- ऐसा हितकारी, जो बिना किसी अपेक्षा के, बिना किसी स्वार्थ के, माता की भाँति अपनी सन्तानों के लिए सदा मङ्गलमय कार्य करता है, कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रभव का अर्थ है - समस्त सृष्टि की उत्पत्ति।
प्रलय का अर्थ है - उसका विलय।
स्थानं - और इन दोनों के मध्य स्थिति अर्थात् पालन का कार्य भी।
निधानं का अर्थ है - जहाँ सब कुछ एकत्रित होता है।
बीजमव्ययम् का अर्थ है- अविनाशी बीज।

श्रीभगवान् अर्जुन के माध्यम से हमें बता रहे हैं-
"जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें प्रलय होता है और जिसकी शक्ति से सृष्टि का पोषण चलता है, वह मैं ही हूँ। मैं ही आदि, मैं ही मध्य और मैं ही अन्त हूँ। मेरा कभी नाश नहीं होता, मैं अनादि और अविनाशी तत्त्व हूँ।"

तुलसीदासजी ने भी बड़ी सरलता और गहनता से यही भाव व्यक्त किया है—

"इति वदति तुलसीदास शंकर शेष मुनि मन रंजनम्।
मम हृदय कुंज निवास कुरु कामादि खल दल गंजनम्।।"

अर्थात्, तुलसीदासजी विनम्रता से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! आप मेरे हृदय रूपी कुञ्ज में विराजमान हों।

जब परमात्मा हमारे अन्तःकरण में निवास करते हैं, तो हृदय स्वतः पवित्र हो उठता है।

काम, क्रोध, लोभ जैसे खल शत्रुओं का नाश हो जाता है और मन ईश्वर के गुणों को धारण कर उनके स्वरूप से आलोकित होने लगता है।

परमात्मा का वास भक्त के निर्मल हृदय में होता है।

जब हृदय मन्दिर बन जाए, तब विकारों का स्थान नहीं रहता और जीवन दिव्यता से परिपूर्ण हो जाता है।

9.19

तपाम्यहमहं(व्ँ) वर्षं(न्), निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं(ञ्) चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन॥9.19॥

हे अर्जुन ! (संसार के हित के लिये) मैं (ही) सूर्य रूप से तपता हूँ, मैं (ही) जल को ग्रहण करता हूँ और (फिर उस जल को) (मैं ही) वर्षा रूप से बरसा देता हूँ (और तो क्या कहूँ) अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् (भी) मैं ही हूँ।

विवेचन - इस श्लोक में श्रीभगवान् अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि किस प्रकार सञ्चालित होती है?

वे कहते हैं -
सूर्य रूप में मैं ही तप प्रदान करता हूँ, उष्णता उत्पन्न करता हूँ और उसी से जल वाष्प बनकर ऊपर उठता है, बादलों में परिवर्तित होता है। उन्हीं बादलों को आकर्षित कर मैं ही उन्हें वर्षा के रूप में पुनः पृथ्वी पर बरसाता हूँ।

फिर श्रीभगवान् आगे कहते हैं –

हे अर्जुन! मैं ही अमृत और अविनाशी भी हूँ, मृत्यु भी मैं ही हूँ। अमरत्व का कारण भी मैं हूँ और मृत्यु का कारण भी मैं हूँ।

इसीलिए कहते हैं -

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

हे अविनाशी मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।

बन्धन मैं हूँ और मोक्ष भी मैं ही हूँ। इस प्रकार श्रीभगवान् दोनों ही स्वरूपों का उद्घाटन करते हैं – यह कारण है कि इस अध्याय को **राजविद्या-राजगुह्ययोग** कहा गया है।

वे आगे स्पष्ट करते हैं – मैं सत् भी हूँ और असत् भी। सत् याने त्रिकालाबाधित है, जो स्थल, काल सापेक्ष होता है, अर्थात सिद्धान्त यहाँ पर या अमेरिका में, सभी जगह उसी प्रकार से रहेगा जैसे मनुष्य के अन्दर की सभी प्रणालियाँ, यहाँ जैसे चलती हैं, वहाँ भी वैसे ही चलेंगी, विज्ञान वही रहेगा। सामान्य मनुष्य अपनी इन्द्रियों से जो देख पाता है उसी को सत्य मान लेता है, और जो उसकी पहुँच से बाहर है उसे असत्य समझता है। यहाँ असत् का अर्थ झूठ नहीं है, बल्कि सूक्ष्म से है।

यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज का अद्भुत श्लोक है-

तो तूं त्रिजगतिये वोलावा । अक्षर तूं सदाशिवा।
तूंचि सदसत् देवा । तयाही अतीत तें तूं॥

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं –

आप तीनों लोकों में व्याप्त हैं (भूः, भुवः, स्वः)।

आप अक्षर (अविनाशी) हैं, आपको कभी नाश नहीं है।

आप ही सदाशिव हैं, अर्थात् परम कल्याणकारी स्वरूप।

आप ही सत्य हैं और आप ही असत्य भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्द्रिय बुद्धि से जो अनुभव होता है, वह सत्य लगता है और जो उससे परे है, वह असत्य प्रतीत होता है। पर वास्तव में आप ही दोनों के मूल कारण हैं।

आप ही सत्य हैं और आप ही असत्य भी प्रतीत होते हैं क्योंकि आप इन्द्रियगोचर नहीं हैं। आप सदाशिव हैं। शिव का अर्थ है कल्याणकारी।

अन्ततः आप तो सत् और असत् दोनों से भी परे हैं। आप तीनों जगतों में समाये हुये हैं, आप उन्हें बाँधे हुये हैं, आप उन्हें सहलाने वाले हैं। किन्तु वास्तव में आप इन सबकी सीमाओं से भी परे हैं। आप अनिर्वचनीय हैं, वाणी और बुद्धि से परे।

श्रीभगवान् यह भी स्पष्ट करते हैं कि अनेक लोग आराधना और पूजा तो अवश्य करते हैं, पर उनका लक्ष्य परमात्मा से मिलन नहीं होता। वे पूजा को साधन बनाकर भौतिक उन्नति, पद, प्रतिष्ठा या व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ति की इच्छा रखते हैं। इस प्रकार परमात्मा साध्य न रहकर मात्र साधन बन जाते हैं और परिणामस्वरूप भक्ति का वास्तविक तत्त्व उनसे छूट जाता है।

9.20, 9.21

त्रैविद्या मां(म्) सोमपाः(फ्) पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं(म्) प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्,
अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।9.20।।
ते तं(म्) भुक्त्वा स्वर्गलोकं(वँ) विशालं(ङ्),
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं(वँ) विशन्ति।
एवं(न्) त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं(ङ्) कामकामा लभन्ते॥9.21॥

तीन वेदों में कहे हुए सकाम अनुष्ठान को करने वाले (और) सोमरस को पीने वाले (जो) पाप रहित मनुष्य यज्ञों के द्वारा (इन्द्ररूप से) मेरा पूजन करके स्वर्ग-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं, वे (पुण्यों के फलस्वरूप) पवित्र इन्द्रलोक को प्राप्त करके (वहाँ) स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।
वे उस विशाल स्वर्गलोक के (भोगों को) भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम धर्म का आश्रय लिये हुए भोगों की कामना करने वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं कि जो लोग सोमरस और उत्तम आहार का सेवन करते हैं, वे तीनों वेदों में वर्णित सकाम यज्ञों और आराधनाओं में प्रवृत्त होकर, पापरहित होकर वास्तव में मेरी ही आराधना तो करते हैं, परन्तु मुझे नहीं चाहते।

सोमरस - चन्द्रमा के कारण वनस्पतियों में औषधीय गुण पोषित होते हैं, वह गुण युक्त रस ।

पूतपापा - पाप से मुक्त हो गए, ऐसे लोग जो पापरहित हो गए।

परमात्मा से परमात्मा की प्राप्ति न चाह कर भोगों की प्राप्ति के लिए जो परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनका लक्ष्य स्वर्ग-सुख होता है। वह स्वर्ग-सुख इस लोक का हो या उसके परे।

अतः वे यज्ञों के फलस्वरूप स्वर्गलोक की प्राप्ति करते हैं, वहाँ निवास करते हैं और दिव्य भोगों का उपभोग करते हैं।

परन्तु जब उनके सञ्चित पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब उन्हें पुनः मृत्यु लोक में लौटना पड़ता है। इस प्रकार वे लोग, जो वेदों में वर्णित सकाम उपासना में ही लगे रहते हैं, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए बार-बार स्वर्ग और मृत्यु लोक के बीच चक्कर लगाते रहते हैं। हे अर्जुन! इस चक्र में वे मुझ तक, परमगति तक कभी नहीं पहुँच पाते।

इसलिए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं -

"पुण्याची पावती सरे, इंद्र पणाची उटी उतरे"

अर्थात जब पुण्य की अवधि समाप्त हो जाती है, तब इन्द्र भी अपने सिंहासन से नीचे उतरने को विवश हो जाते हैं।

इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है -

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।9.21।।

वे उस विशाल स्वर्ग लोक के भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्यु लोकमें आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम धर्म का आश्रय लिये हुए भोगों की कामना करनेवाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं।

पुण्य क्षीण होने पर स्वर्गवासी वहाँ से बाहर कर दिए जाते हैं। इसे हम सरल उदाहरण से समझ सकते हैं—जैसे कोई व्यक्ति पाँच सितारा होटल में ठहरता है। वहाँ के सुन्दर वातावरण और विलासितापूर्ण भोग का आनन्द तो उसे मिलता है, परन्तु जैसे ही उसका पैसा (बैंक बैलेंस) समाप्त हो जाता है और वह होटल का बिल नहीं चुका पाता, वैसे ही न केवल उसका आनन्द छिन जाता है, बल्कि होटल का प्रबन्धक उसका सामान बाहर फेंक देता है और उसे भी वहाँ से निकलना पड़ता है। उसी प्रकार, स्वर्ग में भी पुण्य समाप्त होने पर भोग का अधिकार छिन जाता है और जीव को पुनः मृत्यु-लोक में लौटना पड़ता है।

9.22

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां(यँ), ये जनाः(फ्) पर्युपासते।
तेषां(न्) नित्याभियुक्तानां(यँ), योगक्षेमं(वँ) वहाम्यहम्॥9.22॥

जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए (मेरी) भली भांति उपासना करते हैं, (मुझ में) निरन्तर लगे हुए उन भक्तों का योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) मैं वहन करता हूँ।

विवेचन - यहाँ श्रीभगवान् की वाणी का स्वरूप बदल जाता है। तत्त्वज्ञान की गूढ़ भाषा अब भक्तों के लिए मधुरता से ओतप्रोत होकर उनके मुखारविन्द से प्रवाहित होती है।

परमात्मा बताते हैं कि जो अनन्य भाव से, किसी भोग की इच्छा किए बिना केवल परमात्मा के लिए ही उनकी भक्ति करते हैं, उनके लिए वे स्वयं क्या वचन देते हैं?

श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि जो भक्त भावपूर्वक परमात्मा की आराधना करते हैं, वे एक अखण्ड, निरन्तर प्रसन्नता के रस का प्रसाद पाते हैं।

ऐसे भक्त कैसे होते हैं? उनका जीवन किस प्रकार कर्मयोग से जुड़ता है? और वे अखण्ड आनन्द का वह दिव्य प्रसाद कैसे पाते हैं?—इन सबका विस्तार हम अध्याय के अन्तिम विवेचन सत्र में देखेंगे।

सन्त श्रीज्ञानेश्वर महाराज एवं श्रीगुरुदेव के पावन चरणों में कृतज्ञता सहित वन्दन करते हुए आज के इस मनोहर विवेचन का समापन किया गया और तत्पश्चात् प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता - श्रीमती राजन्या दावन दीदी
प्रश्न - स्वामी विवेकानन्द जी ने चार योग बताए हैं - राज योग, भक्ति योग, ज्ञान योग और कर्म योग, इनमें से कौन से योग को पहले पढ़ना चाहिए?
उत्तर - सबसे पहले कर्म योग पढ़ें। निरन्तर कर्म करते हुए परमात्मा से जुड़ें, उसके बाद ही अन्य योग पढ़ें क्योंकि यदि हम पहले ही भक्ति योग या ज्ञान योग के बारे में पढ़ लेंगे तो हो सकता है कि हमारा मन मुख्य लक्ष्य, जो कि परम् तत्त्व से जुड़ना है, से हट जाए।

यम, नियम,आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार हठ योग के अङ्ग हैं, इनके द्वारा इन्द्रियों को वश में कर फिर धारणा, ध्यान और समाधि अर्थात् राज योग तक क्रमशः पहुँच सकते हैं और आत्म तत्त्व को पहचान सकते हैं।

एक ही बार में ऊँची उड़ान नहीं भर सकते, धीरे-धीरे एक एक सोपान चढ़ना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता भी हमें उन सोपानों पर चढ़कर परम् तत्त्व तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करती है। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मतत्त्व और ध्यान योग से परिचित कराते हैं परन्तु फिर उन्हें कर्म योग समझाते हुए युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि युद्ध ही क्षत्रियों का कर्त्तव्य-कर्म है।

तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत निश्चय:।। 2.37।।

हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान करते हुए क्रम से आगे बढ़ना है।

यहाँ एक दृष्टान्त उद्धृत किया गया।
एक बार एक युवती अपनी माता के साथ विवेचिका जी के पास भगवद्गीता सीखने के उद्देश्य से आई। उसे गीता जी पढ़ना बहुत अच्छा लगता था और वह अपनी पढ़ाई छोड़कर केवल गीता जी और श्रीकृष्ण में ही रम जाना चाहती थी। इस कारण बेटी के भविष्य को लेकर उसकी माँ चिन्तित थीं। कुछ दिन गीता पढ़ने के बाद उसका हृदय परिवर्तन होने लगा। हमें कब कर्त्तव्य करना चाहिए और कब ध्यान करना चाहिए, गीता जी में यह स्पष्ट बताया गया है, उसे समझ आ गया कि एक विद्यार्थी का प्रथम कर्त्तव्य पढ़ाई है, अतः पहले वही करना चाहिए और वह नियमित रूप से विद्यालय जाने लगी। गहराई में जाकर भी अपने कर्तव्य नहीं भूलना चाहिए।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है

काकुला ठावं न सांडिता, लिंगी जे चंद्र प्रकटता,
हां अनुरागु भोगिता कमलिनी जाणे।।

प्रश्नकर्ता - श्री भूषण लाल कौल भैया
प्रश्न - श्रीकृष्ण ने मनुष्य योनि में जन्म लेकर यही कहा है कि जीवन में अहम् नहीं होना चाहिए, अहङ्कार का त्याग करना चाहिए, परन्तु सम्पूर्ण भगवद्गीता में उनकी वाणी में अहम् झलकता है " मैं ही सब कुछ हूँ, सभी चराचर सृष्टि में मेरा ही वास है", ऐसा

क्यों?
उत्तर - यहाँ यह समझना आवश्यक है कि भगवद्गीता मनुष्य शरीर में सीमित श्रीकृष्ण ने नहीं कही थी अपितु उन्होंने परब्रह्म स्वरूप से संयुक्त होकर कही थी, इसे **ऐश्वर्य योग** कहते हैं। वे परब्रह्म जो निराकार हैं और जड़ तथा सूक्ष्म सभी में विद्यमान हैं, उनकी व्यापकता समझना चाहिए।

महाभारत के युद्ध के बाद जब अर्जुन श्रीकृष्ण से पुनः भगवद्गीता सुनाने की प्रार्थना करते हैं तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि उस समय वे निराकार परमेश्वर से जुड़ गए थे और योगेश्वर के रूप में गीता सुनाई थी जो वे अब नहीं कर सकते।

अठारहवें अध्याय के अन्त में सञ्जय कहते हैं

योगं योगेश्वरात्कृष्ण:, साक्षात् अत्यंत: स्वयं।।18·75।।

यहाँ श्रीकृष्ण को मनुष्याकृति में सीमित करना उचित नहीं है।
महाभारत में श्रीकृष्ण के संवादों को " श्रीकृष्ण उवाच" कहा गया है जबकि भगवद्गीता में "श्रीभगवान् उवाच" कहा गया है, इस अन्तर को समझना आवश्यक है।

अवजानन्ति मां मूढा, मानुषीं तनुमाश्रितं।
परम् भावमजानन्तो,मम भूत महेश्वरं।।9·11।।

प्रश्नकर्ता - श्री भूषण पण्डित भैया
प्रश्न - नवें अध्याय के बीसवें श्लोक के "**पूत पापा**" शब्द को स्पष्ट करें।
उत्तर - इसका अर्थ है जिसने दूसरों का कल्याण कर पुण्य प्राप्त किया है, उनके पुण्य का फल शाश्वत होता है और भोग करने वालों को इस शाश्वत की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि भोग कभी भी समाप्त नहीं होते।

प्रश्नकर्ता - श्री रमेश प्रसाद भैया
प्रश्न - माधुर्य भक्ति क्या होती है?
उत्तर - यह सर्वोपरि भक्ति है जिसमें परब्रह्म परमात्मा को पति या प्रियकर मानकर भक्ति की जाती है।

महान सन्त श्री गुलाब राव जी ने मधुराद्वैत परम्परा स्थापित की। जिस तरह पति-पत्नी के सम्बन्ध में दोनों के बीच कोई पर्दा नहीं होता वैसे ही माधुर्य भक्ति में परमात्मा और भक्त एक रूप हो जाते हैं।

गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति माधुर्य भक्ति ही थी। वे श्रीकृष्ण को प्रियकर के रूप में पाने के लिए कात्यायनी देवी का व्रत करतीं थीं जो कि शरद पूर्णिमा को किया जाता है। परमात्मा का अखण्ड प्रेम इस भक्ति से प्राप्त होता है परन्तु इसके लिए योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !

संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

Let’s come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||